सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा व टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परमपूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हे मुनियों! यदि कर सकते हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करो। यह प्रतिक्रमण, सामायिक, वन्दना, स्तुति आदि समस्त अंतरंगक्रिया आत्मा के शुद्धस्वरूप के अवलम्बन से होती है। यहाँ सम्पूर्ण कथन मुनिराजों की अपेक्षा से किया गया है।[१]

सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में रहना ही प्रतिक्रमण, सामायिक आदि की वास्तविक क्रिया है। और तुम्हें निर्विकल्प ध्यान के अभाव में छठे गुणस्थान में जो शुभराग होता है, वह सामायिक नहीं है, सच्ची क्रिया नहीं है - यह ध्यान में रखना। तात्पर्य यह है कि उस समय भी अप्रमत्तदशा में जाने का श्रद्धान रखना।

यहाँ 'श्रद्धान रखना' - इसका अभिप्राय मात्र सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धान की बात नहीं है; परन्तु छठवें गुणस्थान में ही संतुष्ट न होकर, सातवें गुणस्थान की निर्विकल्प दशा का श्रद्धान रखना है। इसप्रकार यहाँ श्रद्धा के साथ चारित्र की उग्रता की बात कही है।[२]

छठवें गुणस्थान में विराजमान मुनिराज को अर्थात् अपने-आपको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे मुनि! ज्ञायकस्वभाव में लीन रहना ही मोक्षमार्ग है। छठे गुणस्थान में तीन कषाय का अभाव तो है, परन्तु स्वरूप में स्थिर नहीं है; इसलिए कहते हैं कि पंचमहाव्रत के परिणाम आस्रव हैं, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं।[३]

टीकाकार मुनिराज अध्यात्मज्ञानी थे, उन्होंने इस नियमसार की अलौकिक टीका बनाई है। वे अपना पुरुषार्थ बढ़ाने हेतु स्वयं अपने को सम्बोधित करते हैं। सर्वप्रथम मुनिराज कैसे होते हैं - यह कहते हैं।

मुनिराज सहज वैराग्यवंत होते हैं, उत्कृष्ट वैराग्यवंत होते हैं, जंगल में रहते हैं, देह-मन-वाणी से परान्मुख होते हैं, उनकी पर्याय द्रव्य के सन्मुख होती है, वे स्वद्रव्य में निष्णात होते हैं। कारणपरमात्मा का अनुभव करते हैं, सभी न्यायों और

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२६३
२. वही, पृष्ठ १२६३ ३. वही, पृष्ठ १२६४

सिद्धान्तों में पारंगत होते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषयों के फैलाव रहित अतीन्द्रियस्वभाव में लीन रहते हैं, उनके देहमात्र परिग्रह के अलावा अन्य कोई परिग्रह नहीं होता।

उनकी देह मात्र संयम के लिए होती है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। निर्ग्रन्थ मुनियों का त्रिकाल ऐसा स्वरूप होता है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मेरे मुख से परमागम झरता है। इस नियमसार की टीका परम-आगम है। जिसप्रकार करोड़पति कहता है कि हमारी हुंडियाँ (चैक) कभी वापस नहीं होतीं; उसीप्रकार मुनिराज कहते हैं कि जो अनन्त केवलियों ने कहा है, वही मैं कहता हूँ। वह अफर है अर्थात् वह कभी बदलता नहीं है। मैं भावलिंगी मुनि हूँ और वक्ता की प्रामाणिकता से वचन प्रमाण होते हैं, इसलिए मेरी की हुई टीका परम-आगम है। जिसप्रकार पुष्प में से मकरंद झरता है, उसीप्रकार आगमरूपी मकरंद मेरे मुखकमल में से झरता है।[१]''

इसीप्रकार के भाव की पोषक एक गाथा अष्टपाहुड़ में आती है; जो इसप्रकार हैह्न

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दमाणस्स सम्मत्तं।।[२]

(हरिगीत)

जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें।।

जो शक्य हो वह करें और जो शक्य न हों, उसका श्रद्धान करें; क्योंकि केवली भगवान ने कहा है कि श्रद्धान करनेवाले को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में जो गाथायें छपी रहती हैं, उनमें भी इसप्रकार की एक गाथा आती है, जो इसप्रकार है ह्न

जं सक्कइ तं कीरइ जं ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहभावो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं।।

जो शक्य है, वह करना चाहिए, पर जो शक्य नहीं है, उसका श्रद्धान करना चाहिए; क्योंकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर-अमर स्थान (मुक्ति) को प्राप्त करता है।

नियमसार की इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि यदि शक्य है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि ही करना चाहिए; अन्यथा इनका श्रद्धान तो अवश्य

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२६४-१२६५
२. अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा २२

करना ही चाहिए।

यह बात साधारण मुनिराजों की ही नहीं है, अपितु महान वैरागी, परद्रव्य से विमुख, स्वद्रव्य ग्रहण में चतुर, देहमात्र परिग्रह के धारी पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे मुनि शार्दूलों से यह बात कही जा रही है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्नघजिननाथस्य भवति।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्।।२६४।।

(हरिगीत)

पापमय कलिकाल में जिननाथ के भी मार्ग में।
मुक्ति होती है नहीं निजध्यान संभव न लगे।।
तो साधकों को सतत आतमज्ञान करना चाहिए।
निज त्रिकाली आत्म का श्रद्धान करना चाहिए।।२६४।।

इस असार संसार में पाप की बहुलतावाले कलिकाल के विलास में निर्दोष जिननाथ के मार्ग में भी मुक्ति नहीं है। इसलिए इस काल में आत्मध्यान कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि ध्यान की विरलता है। शुक्लध्यान तो है ही नहीं, निश्चय धर्मध्यान भी विरल है।

ऐसी स्थिति में निर्मल बुद्धिवालों को भवभय को नाश करनेवाले निज के आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए, उसे जानना चाहिए और उसमें ही अपनापन स्थापित करना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस असार संसार में पाप से भरपूर कलिकाल का विलास है। देह की क्रिया और पुण्य से धर्म माननेवाले लोग बहुत हैं।[१]

इस काल में सर्वज्ञदेव द्वारा प्ररूपित मार्ग में भी पर्याय में साक्षात् मोक्ष नहीं कहा

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२६८

है, पर्याय में केवलज्ञान की प्राप्ति होना नहीं कहा है।

अहो! वीतरागी मार्ग में भी मुक्ति नहीं है, तब फिर अन्यमत में तो कहाँ से होगी; इसलिए इस काल में आत्मा में विशेष लीनता और ध्यान भी कहाँ से हो? अर्थात् जिस ध्यान से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, वह ध्यान इस काल में नहीं होता; इसलिए जिसे भवभय का नाश करना हो, 'मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानानन्दमूर्ति हूँ' ऐसी श्रद्धा अंगीकार करने के बाद अप्रमत्तदशा धारण कर अंतर में संपूर्णपने स्थिर होने की श्रद्धा रखनी चाहिए। आत्मा में भव ही नहीं है, शरीर-मन-वाणी नहीं है। मेरा क्या होगा, मैं कहाँ जाऊँगा - ऐसी शंका भी धर्मी को नहीं होती। चैतन्य की निशंक श्रद्धा तो धर्मी को है ही, यहाँ तो उससे आगे मुनि की बात कही है। अतः श्रद्धा-उपरान्त अप्रमत्त वीतरागी चारित्र की श्रद्धा रखना ह्न ऐसा कहा है और मुनिराज अपने में ऐसी अडिग श्रद्धा रखते हैं।[१]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि **जब इस पंचमकाल में जैनदर्शन में भी मुक्ति नहीं है तो फिर अन्यत्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में यदि हमें आत्मध्यान दुर्लभ लगता है तो फिर कम से कम हमें उक्त सही मार्ग का श्रद्धान तो करना ही चाहिए॥२६४॥**

नियमसार गाथा १५५

विगत गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहने के उपरान्त कि यदि कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करो, अन्यथा उनका श्रद्धान करो; अब इस गाथा में जिनागमकथित निश्चय प्रतिक्रमणादि करने की प्रेरणा दे रहे हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहए णिच्चं॥१५५॥

(हरिगीत)

जिनवरकथित जिनसूत्र में प्रतिक्रमण आदिक जो कहे।
कर परीक्षा फिर मौन से निजकार्य करना चाहिए॥१५५॥

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये परमागम में प्राप्त प्रतिक्रमणादि की भले प्रकार परीक्षा करके मौन होकर योगी को प्रतिदिन अपना कार्य साधना चाहिए।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२६८

''यहाँ साक्षात् अन्तर्मुख परमजिन योगी को यह शिक्षा दी गई है।

श्रीमद् अरहंत भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए समस्त पदार्थ जिसके भीतर समाये हुए हैं ह्न ऐसी चतुर शब्द रचनारूप द्रव्यश्रुत में कही गई शुद्ध निश्चयनयात्मक परमात्मध्यानात्मक प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर, केवल स्वकार्य में परायण परमजिनयोगीश्वर प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचन रचना को परित्याग कर, सम्पूर्ण संग (परिग्रह) की आशक्ति को छोड़कर, अकेला होकर, मौन व्रत सहित समस्त पशुजनों (पशु समान अज्ञानी मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी अव्यग्र रहकर निज कार्य को निरन्तर साधना चाहिए; क्योंकि वह आत्मध्यानरूप निजकार्य मुक्तिरूपी सुलोचना के सम्भोग के सुख का मूल है।''

इस गाथा और इसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''प्रतिक्रमण आदि में बोले जानेवाले शब्द जड़ हैं तथा बाह्य प्रतिक्रमण आदि करने का भाव शुभराग है, जो कि भूमिकानुसार आये बिना नहीं रहता। वह पुण्य है और पुण्य-पाप रहित शुद्ध आत्मा के आश्रय से उत्पन्न निर्विकारी क्रिया, प्रतिक्रमण आदि की शुद्धक्रिया है और वही मोक्षमार्ग की आवश्यक क्रिया है; ऐसी आवश्यक और यथार्थ क्रिया के ज्ञानपूर्वक मुनिराज मौनव्रत धारण कर स्वभाव में एकाग्र होते हैं।[१]

जिसने अपने आत्मस्वरूप को समझकर उसमें एकाग्रता की है, वही योगी है - ऐसा भान तो चौथे गुणस्थानवर्ती के हो जाता है। उसके बाद स्वरूप में विशेष स्थिरता करनेवाले को परमयोगी कहते हैं - ऐसे योगी प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचन-रचना तथा इसीप्रकार सर्वसंग की आसक्ति छोड़कर और मौनव्रत धारण कर अकेले ध्यान में रहकर अपना निज कार्य करते हैं अर्थात् मोक्ष के कारणस्वरूप अपने आत्मा में ही लीन रहते हैं।[२]

यहाँ सच्चे तत्त्व का विरोध करनेवाले अज्ञानी जीवों को पशु कहा है। जिसप्रकार पशु को विवेक नहीं होता, उसीप्रकार अज्ञानी को भी सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता।[३]

शरीर के अनन्त परमाणु एक क्षण में बिखर जाते हैं/ पलट जाते हैं, वे भी तेरी बात नहीं मानते, अतः तुझे उसके बारे में भी विकल्प नहीं करना है, तब फिर मनुष्य तो असंख्यात हैं, यदि वे तेरा विरोध करते हैं तो तुझे उनके सामने भी नहीं देखना

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७०
२. वही, पृष्ठ १२७२ ३. वही, पृष्ठ १२७२-१२७३

चाहिए। इज्जत-आबरू रहनी होगी तो रहेगी, जानी होगी तो जायेगी, बाहर में जो होना होगा वह होगा, तुझे उसकी ओर नहीं देखना है।

तात्पर्य यह है कि तुझे अपने उपयोग को उनमें नहीं लगाना है। तुझे तो उनके प्रति होनेवाले राग को भी छोड़कर और निजस्वभाव के आलम्बनपूर्वक मोक्षदशारूप निजकार्य साधना है।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका में एक ही बात कही गई है कि योगियों का एकमात्र कर्त्तव्य निज आत्मा की साधना-आराधना है। वह साधना एकमात्र केवली की वाणी में समागत द्रव्यश्रुत में ग्रथित निश्चय परम प्रतिक्रमणादिरूप है; क्योंकि प्रतिक्रमणादि सभी आवश्यक एकमात्र आत्मध्यान में समाहित हैं।।१५५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं,उनमें से प्रथम छन्द इसप्रकार हैह्न

(मंदाक्रांता)

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीम्।
मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं चात्मनात्मा
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः।।२६५।।

(हरिगीत)

पशूवत् अल्पज्ञ जनकृत भयों को परित्याग कर।
शुभाशुभ भववर्धिनी सब वचन रचना त्याग कर।।
कनक-कामिनी मोह तज सुख-शांति पाने के लिए।
निज आतमा में जमे मुक्तीधाम जाने के लिए।।२६५।।

आत्मज्ञानी मुमुक्षु जीव, पशुजन (अज्ञानी जगत) कृत समस्त लौकिक भय को तथा घोर संसार करनेवाली समस्त प्रशस्त-अप्रशस्त वचररचना को छोड़कर और कनक-कामिनी संबंधी मोह तजकर मुक्ति के लिए स्वयं अपने से अपने में ही अचल स्थिति को प्राप्त होते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनियों को अप्रशस्त राग बहुत अल्प होता है। देव-गुरु की भक्ति, स्वाध्याय, पठन-पाठन का राग प्रशस्त है, उस राग को भी संसार का करनेवाला कहा है। व्यवहार करते-करते धर्म हो जायेगा - यह बात तो यहाँ है ही नहीं; परन्तु आत्मा के

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७३-१२७४

भानपूर्वक मुनियों को जो अस्थिरताजन्य शुभराग आता है, वह भी घोर संसार है। वचनरचना अर्थात् प्रतिक्रमण प्रायश्चित आदि की भाषा तो जड़ है, आत्मा उसे कर नहीं सकता, इसीप्रकार आत्मा उसे छोड़ भी नहीं सकता है; परन्तु वह पाठ बोलने संबंधी प्रशस्त राग को छोड़ता है ह्न ऐसा भावार्थ है।[१]

परपदार्थ से रहित, विकार से रहित अविकारी ज्ञानानंदस्वभाव में श्रद्धान, ज्ञान और लीनता करने पर मोह-राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। इसे ही मोह को छोड़ा ह्न ऐसा कहा जाता है। आत्मा में जड़ का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं; परन्तु विकार को छोड़ना ये भी नाममात्र है। विकार पर्यायबुद्धि से नहीं छूटता; परन्तु स्वभावबुद्धि होने पर विकार उत्पन्न ही नहीं होता।

इसप्रकार कनक-कामिनी के मोह को छोड़कर अपनी परमानंद दशा प्राप्त करने के लिए अपने से अपने को अपने में ही अविचल करो ह्न स्थिर करो। व्यवहार राग और व्यवहार रत्नत्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु अपने से ही कल्याण होता है। इसलिए निमित्त में, राग में स्थित होने को नहीं कहा; परन्तु अपने शुद्धस्वभाव में स्थित होने को कहा है।[२]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि आतमज्ञानी मुमुक्षु जीव तो अज्ञानियों द्वारा उत्पन्न लौकिक भय, घोर संसार का कारण प्रशस्त और अप्रशस्त वचनरचना तथा कनक-कामिनी संबंधी मोह को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपने आत्मा में जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि यदि हम भी अपना कल्याण करना चाहते हैं तो मन, वचन और काय संबंधी समस्त प्रपंचों का त्याग कर हमें भी स्वयं में समा जाना चाहिए। अपने में अपनापन स्थापित करके स्वयं के ज्ञान-ध्यान में लग जाना चाहिए; क्योंकि स्वयं के श्रद्धान और ज्ञान-ध्यान में सभी निश्चय परमावश्यक समाये हुए हैं।।२६५।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम्।
आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम्।।२६६।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७५ २. वही, पृष्ठ १२७६

(हरिगीत)

कुशल आत्मप्रवाद में परमात्मज्ञानी मुनीजन।
पशुजनों कृत भयंकर भय आत्मबल से त्याग कर।।
सभी लौकिक जल्प तज सुखशान्तिदायक आतमा।
को जानकर पहिचानकर ध्यावें सदा निज आतमा।।२६६।।

आत्मप्रवाद नामक श्रुत में कुशल परमात्मज्ञानी मुनि पशुजनों (अज्ञानीजनों) द्वारा किये जानेवाले भय को छोड़कर और सम्पूर्ण लौकिक जल्पजाल को तजकर शाश्वत सुखदायक एक निज तत्त्व को प्राप्त होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसे मुनिराज को परमात्मज्ञानी कहा है कि जो मुख्यतः आत्मा का वर्णन करनेवाले शास्त्रों में कुशल हैं, अध्यात्मतत्त्व के मर्म को जाननेवाले अध्यात्मज्ञानी हैं, छठवें-सातवें गुणस्थान के आनन्द प्रवाह में झूलते हैं।[१]

परपदार्थ में फेर-बदल करना तो आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं, पर राग को बदलने का स्वभाव भी आत्मा में नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो मात्र जानने का है अर्थात् जानना ही एकमात्र आत्मा का कर्तव्य है। इसलिए फेर-बदल करने की दृष्टि को ही फेरना/बदलना है। जो दृष्टि अभी तक पुण्य-पाप में अटकी हुई है, उसे स्वभावसन्मुख करने पर सबकुछ बदल जाता है। अज्ञानियों का सम्पूर्ण अभिप्राय मिथ्या होता है। इसलिए उनकी ओर ध्यान मत दो और उनके द्वारा किये जानेवाले उपद्रवों के भय से मुक्त हो जावो।[२]

जड़ वाणी का तथा उसके प्रति होनेवाले राग का लक्ष्य छोड़ने पर ही शाश्वत सुखदायी तत्त्व की प्राप्ति होती है। राग, पुण्य-पाप और निमित्त सुखदायी नहीं है; परन्तु एकमात्र निज ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा ही अतीन्द्रिय सुखदायी है और उसकी साधना ही आवश्यक क्रिया है। बाकी सम्पूर्ण शुभ-अशुभ भाव हेय हैं, उनसे कल्याण नहीं होता। निजतत्त्व की प्राप्ति ही एकमात्र सुख का मार्ग है।[३]''

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक शास्त्रों के अध्येता मुनिवर; अज्ञानियों द्वारा किये गये उपद्रवों की परवाह न करके, लौकिक जल्पजाल को छोड़कर शाश्वत सुख देनेवाले आत्मा की आराधना करते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि हमें आत्मकल्याण करना है तो हमें निज आत्मा की आराधना करना चाहिए।।२६६।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२७७ २. वही, पृष्ठ १२७७ २. वही, पृष्ठ १२७८

नियमसार गाथा १५६

विगत गाथा में सब ओर से उपयोग हटाकर अपने आत्मा के हित में गहराई से लगना चाहिए ह्न ऐसा कहा था; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि स्वमत और परमतवालों के साथ वाद-विवाद में उलझना ठीक नहीं है। गाथा मूलतः इसप्रकार हैह्न

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।१५६।।

(हरिगीत)

हैं जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही।
अतएव वर्जित बाद है निज पर समय के साथ भी।।१५६।।

जीव अनेक प्रकार के हैं, कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और लब्धियाँ भी अनेक प्रकार की हैं; इसलिए साधर्मी और विधर्मियों के साथ वचन-विवाद वर्जनीय है, निषेध करने योग्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह वचनसंबंधी व्यापार से निवृत्ति के हेतु से किया गया कथन है।

जीव अनेक प्रकार के हैं। मुक्त जीव-अमुक्त जीव (संसारी जीव), भव्य जीव-अभव्य जीव। संसारी जीव ह्न त्रस और स्थावर। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय में संज्ञी-असंज्ञी ह्न इसप्रकार त्रस जीव पाँच प्रकार के हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ह्न ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं।

भविष्यकाल में स्वभाव-अनन्तचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणों रूप से भवन-परिणमन के योग्य जीव भव्य हैं और उनसे विपरीत अभव्य हैं।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ह्न ऐसे भेदों के कारण अथवा आठ मूल प्रकृति और एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृति के भेद से अथवा तीव्रतर, तीव्र, मंद और मन्दतर उदय भेदों के कारण अनेक प्रकार हैं।

जीवों को सुखादि की प्राप्तिरूप लब्धि ह्न काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदों के कारण पाँच प्रकार की है।

इसलिए परमार्थ के जाननेवालों को स्वसमयों और परसमयों के साथ वाद-विवाद करना योग्य नहीं है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि हे प्राणियो! इस जगत में अनेक प्रकार के जीव हैं, भव्य भी हैं और अभव्य भी हैं। तू किस-किस को समझायेगा? तू तो स्वयं समझ कर अपने में स्थिर हो जा। जिसकी योग्यता होगी, वह समझ जायेगा और अयोग्य जीव तो साक्षात् भगवान के समवशरण में जाकर भी नहीं समझते हैं। इसलिए समझाने का विकल्प से शांत हो और स्वयं समझकर अपने में स्थिर हो जा। वाद-विवाद से पार पड़े ह्न ऐसा नहीं है।

तथा सभी जीव निमित्त अपेक्षा अनेक प्रकार के कर्मवाले हैं, अनेक प्रकार की लब्धिवाले हैं, अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न योग्यतावाले हैं; तू किस-किसको समझायेगा? इसलिए चाहे वह जैनधर्मावलम्बी हो या अन्य धर्मावलम्बी हो किसी के भी साथ वाद-विवाद नहीं करना चाहिए।[१]''

उक्त गाथा में तो मात्र यही कहा गया है कि जीव अनेक प्रकार हैं, उनके कर्म (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और देहादि नोकर्म अथवा कार्य) अनेक प्रकार के हैं और उनकी लब्धियाँ, उपलब्धियाँ भी अनेक प्रकार की हैं; अत: सभी की समझ, मान्यता, विचारधारा एक कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि सभी जीव के परिणामों में विभिन्नता देखी जाती है, मतभेद पाया जाता है; इसकारण सभी को एकमत करना संभव नहीं है, समझाना भी संभव नहीं है; क्योंकि बहुत कुछ सामनेवाले की योग्यता पर ही निर्भर होता है।

यदि तुझे समझाने का भाव आता है तो कोई बात नहीं; अपने विकल्प की पूर्ति कर ले; पर तेरे समझाने पर भी कोई न माने, स्वीकार न करे तो अधिक विकल्प करने से कोई लाभ नहीं।

समझाने के विकल्प से किसी से वाद-विवाद करना तो कदापि ठीक नहीं है। न तो अपने मतवाले के साथ और न अन्यमतवालों के साथ विवाद करना कदापि ठीक नहीं है।

टीकाकार मुनिराज ने नाना जीव का अर्थ करते हुए जीवों के मुक्त और संसारी, संसारियों के त्रस और स्थावरादि भेद गिना दिये अथवा भव्य-अभव्य की बात कर दी। उनका स्वरूप भी संक्षेप में समझा दिया। कर्म में ज्ञानावरणादि ८ मूल प्रकृतियों और १४८ उत्तर प्रकृतियों की चर्चा कर दी। लब्धियों के भी पाँच भेद गिना दिये।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२८०

मैं क्षमायाचनापूर्वक अत्यन्त विनम्रता के साथ कहना चाहता हूँ कि मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ इन सब की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि एक तो नियमसार का अध्येता इन सब जैनदर्शन संबंधी प्राथमिक बातों से भलीभाँति परिचित ही है; दूसरे यहाँ मुख्य वजन तो स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद नहीं करने की बात पर है।

समझने-समझाने के विकल्प में पड़ कर वाद-विवाद में उलझ जाना समझदारी का काम नहीं है, केवल मनुष्यभव के कीमती समय को व्यर्थ में बर्बाद करना ही है। गृहस्थों को भी उक्त महत्त्वपूर्ण सलाह अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु मुनियों के लिए तो अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य है।

नाना जीव का आशय विभिन्न रुचिवाले जीवों से है। आचार्य अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में इसप्रकार के प्रसंग में ऐसा ही कहा है। वे लिखते हैं ह्न **''विभिन्नरुचय: हि लोका: ह्न** लौकिकजन भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं।''

इसीप्रकार कर्मों के उदय से होनेवाले जीव के औदयिक भाव भी अनेक प्रकार के होते हैं तथा लब्धि अर्थात् पर्यायगत योग्यता भी प्रत्येक जीव की प्रतिसमय भिन्न-भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में सबका एकमत होना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है।

इसप्रकार यहाँ लब्धियों के माध्यम से क्षणिक उपादान के रूप में पर्यायगत योग्यता, अंतरंग निमित्त के रूप में कर्मोदय और जीवों के रूप में त्रिकाली उपादान को ले लिया गया है।

कहने का आशय यह है कि समझ में आने के लिए उसका द्रव्य-स्वभाव, पर्यायस्वभाव और अंतरंग निमित्त जिम्मेवार हैं; यदि उसकी समझ में आ जावे तो भी तू मात्र बहिरंग निमित्त होगा। इसलिए समझाने के विकल्प से वाद-विवाद करना समझदारी नहीं है।।१५६।। **(क्रमश:)**

अब हम क्या करें ?

– डॉ. हुकमचंद भारिल्ल, जयपुर

स्वामीजी की जन्मजयन्ती के अवसर पर पूर्व में डॉ. भारिल्ल द्वारा जैनपथप्रदर्शक में लिखे गये लेख को 11 मई 2013 को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का 124वाँ जन्मदिवस के अवसर पर वीतराग-विज्ञान के पाठकों के लिए इसलिये प्रस्तुत किया जा रहा है; क्योंकि उनके वे विचार वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। – सहसम्पादक

पूज्य गुरुदेवश्री के स्वर्गवास के अवसर पर आज से तीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिन्दी) के फरवरी 1981 के संपादकीय में **'अब क्या होगा ?'** शीर्षक से मैंने जो विचार प्रस्तुत किये थे, उनका महत्त्वपूर्ण अंश प्रस्तुत करना चाहता हूँ; जो इसप्रकारहैह्न

''पिता के देहावसान होने पर उनके लगाए कारखाने बन्द नहीं होते, अपितु एक के अनेक होकर और अधिक द्रुतगति से चलते हैं। जब दो-चार पुत्रों के होने मात्र से ये कल-कारखाने द्विगुणित-चतुर्गुणित होकर चलते हैं, तो जिस धर्मपिता ने चार लाख से भी अधिक धर्म संताने छोड़ी हों, उसके चलाए कार्यक्रम कैसे बन्द हो सकते हैं ?

वे तो शतगुणित, सहस्रगुणित होकर चलने चाहिए और चलेंगे भी। इसमें आशंकाओं के लिए कोई अवकाश नहीं है।

सोनगढ़ में ही नहीं, अपितु सारे देश में अब भी वैसे ही शिविर लगेंगे जैसे कि गुरुदेवश्री की उपस्थिति में लगते थे। वैसा ही साहित्य प्रकाशित होगा और कम से कम मूल्य में उपलब्ध कराया जायेगा, जैसा कि गुरुदेवश्री के सद्भाव में होता था। और भी सभी कार्यक्रम अब भी उसीप्रकार संचालित होंगे, जिसप्रकार कि तब चलते थे।

याद रखो, यदि ऐसा नहीं हुआ तो हम सब उन्हीं कुपुत्रों में गिने जावेंगे जो कि पिता के द्वारा छोड़ी संपत्ति को बढ़ाते नहीं, अपितु बर्बाद कर देते हैं। अब हमें गुरुदेवश्री की ओर नहीं, अपनी ओर देखना है और यह सिद्ध करना है कि हम अपने धर्मपिता के कपूत नहीं, अपितु सपूत हैं। क्या कमी है आज हमारे पास ? धनबल, जनबल, बुद्धिबल ह्न सभी कुछ तो है। कुछ भी तो नहीं ले गये वे, सबकुछ यहीं तो छोड़ गए हैं, हमारे लिए। जब उन्होंने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया था, तो आत्मबल के अतिरिक्त क्या था उनके पास ?

पर अकेले उन्होंने एक टेकरी को तीर्थ बना दिया, देशभर में धर्म का डंका बजा दिया। क्या हम सब मिलकर भी उनकी थाती को न संभाल सकेंगे ? हम सबके समक्ष यह एक चुनौती है। इस चुनौती को आज हमें स्वीकार करना है।

'अब क्या होगा ?' पूछने वालों को हम विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वही होगा जो गुरुदेवश्री ने बताया है, चलाया है, जो अभी तक चलता है, अभी तक चलता रहा है; वह अब भी चलता रहेगा, उसीप्रकार चलता रहेगा, उसमें कोई कमी नहीं आयेगी, हो सकता है कि उसकी चाल में और भी तेजी आ जावे। पर, भाई....गुरुदेव तो गये सो गये, उन्हें तो कहाँ से लायें ?

आज गुरुदेव के हजारों घण्टों के टेप हमारे पास हैं, जिन्हें हम कभी भी उन्हीं की आवाज में सुन सकते हैं; घण्टों के उनके वी.डी.ओ.टेप (बोलती फिल्म) हैं, जिनके माध्यम से हम गुरुदेवश्री को चलते-फिरते देख सकते हैं, बोलते हुए देख सकते हैं,

सुन सकते हैं; बस, वे सदेह-सचेतन हमारे पास नहीं हैं।

'अब क्या होगा ?' इस किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति को तोड़ो न ! छोड़ो न इस व्यर्थ के विकल्प को और चल पड़ो उस रास्ते पर जो गुरुदेवश्री ने बताया है और जगत को बताओ वह रास्ता जो गुरुदेवश्री ने आपको ह्न हम सबको बताया है।

भगवान महावीर के चले जाने पर गौतम गणधर रोने नहीं बैठे थे, अपितु महावीर की बताई राह पर चलकर स्वयं महावीर (सर्वज्ञ) बन गये थे। यदि हम गुरुदेवश्री के सच्चे शिष्य हैं तो हमें गुरुदेवश्री के चले जाने पर वही राह अपनानी चाहिए, जो महावीर के अन्यतम शिष्य गौतम ने अपनाई थी।

गुरुदेवश्री के अभाव में उदासी तो सहज है, पर निराशा का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उठो ! मन को यों निराश न करो और चल पड़ो उस राह पर...।''

गुरुदेवश्री के देहावसान के अवसर पर हमने जो संकल्प किये थे; उन्हें क्रियान्वित करने में हम कितने सफल हुए हैं; वह अब सबके सामने प्रत्यक्ष भी है ही।

अब हमें आगे के तीस वर्षों तक क्या करना है ? ह्न इस पर विचार अपेक्षित है।

गुरुदेवश्री के स्वर्गवास के समय कुछ गिनती के वयोवृद्ध स्वाध्यायी विद्वान तो थे; पर जिन्होंने जैनदर्शन का विधिवत सर्वांगीण अध्ययन किया हो, ऐसे युवा विद्वान नहीं थे; पर आज हमारे पास जैनशास्त्रों का विधिवत अध्ययन करनेवाले, प्राकृत-संस्कृत भाषा के जानकार छह सौ से भी अधिक युवा विद्वान हैं; जिनके द्वारा हम गुरुदेवश्री के बताये तत्त्वज्ञान को न केवल घर-घर तक,अपितु जन-जन तक पहुँचाने का काम कर सकते हैं, शास्त्रों के सुन्दरतम अनुवाद प्रस्तुत कर सकते हैं, जिनवाणी को जनवाणी बना सकते हैं। हमें यह कार्य पूरी शक्ति से करना चाहिए।

ये विद्वान आज हमारी निधि हैं। इनका निर्माण ऐसे ही नहीं हो गया है। यह निधि 35 वर्षों से पूर्णत: समर्पित अथक् परिश्रम का परिणाम है। विद्वान बनाने का यह कारखाना पूज्य गुरुदेवश्री के समक्ष ही खुल गया था। इसे पूज्य गुरुदेवश्री का मंगल आशीर्वाद प्राप्त था। एक-दो बेच उनके सामने ही तैयार हो गये थे; जिन्हें देख-देख कर उनके मुख से असीम वात्सल्य भाव प्रगट होता था। इन्हें देखकर उन्हें भरोसा हो गया था कि यह तत्त्वज्ञान चिरकाल तक जन-जन तक निरन्तर पहुँचता रहेगा।

यदि हम इन विद्वानों का सही उपयोग नहीं करेंगे, उनका समुचित सम्मान नहीं करेंगे तो यह लोग अन्य लौकिक क्षेत्र में जा सकते हैं। इनको गढने में जो श्रम हुआ, वह व्यर्थ जा सकता है। इनका उपयोग पठन-पाठन और दैनिक प्रवचनों के अतिरिक्त शिविरों के संचालन में भी किया जा सकता है और किया भी जा रहा है। आज देश में दो-दो सौ स्थानों पर एक साथ लगाये जानेवाले शिविर इन विद्वानों के सहयोग से

चल रहे हैं।

ध्यान रहे, यदि इनका समुचित समादर हुआ तो आगे भी लोग अपने बालकों को जैनदर्शन का अध्ययन कराने के लिए उत्सुक रहेंगे; अन्यथा हमें छात्रों की उपलब्धता भी सहज न रहेगी। यदि आर्थिक कठिनाई के कारण विद्वान तैयार करने का काम प्रभावित होता है, उसका विस्तार रुक जाता है तो निरन्तर आगे बढ़नेवाले मुमुक्षु समाज के कदम रुक जायेंगे। इस काम को कायम रखना हमारा परम कर्त्तव्य है।

गुरुदेवश्री की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने का काम करनेवाले ये समर्पित विद्वान ही गुरुदेवश्री के सच्चे स्मारक हैं; उनकी स्मृति दिलानेवाले हैं। इनका निर्माण जड़-पत्थर से बने स्मारकों के समान सहज सुलभ नहीं है; क्योंकि इन्हें बनाने के लिए ईंट-पत्थर और रोड़ी-सीमेन्ट काम नहीं आते, इनके निर्माण की कच्ची सामग्री तो वे आध्यात्मिक रुचि से सम्पन्न प्रतिभाशाली बालक हैं; जो अपना जीवन इस महान कार्य को समर्पित करना चाहते हैं। इन्हें गढनेवाले व्युत्पन्न विद्वान भी मजदूरों के समान सहज उपलब्ध नहीं हैं।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट सहित जो भी संस्थाएँ इस काम में लग रही हैं; उन सभी का महान योग गुरुदेवश्री के प्रभावना योग में है। इनका संचालन सफलतापूर्वक होते रहना भी अत्यन्त आवश्यक है।

तैयार होनेवाले ये वैरागी विद्वान पत्थर के स्मारकों के समान हजारों वर्ष तक रहनेवाले नहीं हैं। जबतक ये तैयार होकर अनुभवी होते हैं तो जाने की तैयारी हो जाती है। अत: विद्वान बनाने की यह प्रक्रिया एक सतत् प्रक्रिया पीढी दर पीढी चलती रहनी चाहिए। ऐसा नहीं है कि गुरुदेव का एक स्मारक बना दिया और बस। विद्वानों की तो परम्परा चाहिए, एक-दो से काम चलनेवाला नहीं है।

टेपों में सुरक्षित गुरुदेवश्री की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने का जो काम अनन्तभाई और निमिषभाई ने किया है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जावे कम है; पर अब उन्हें सुनने-सुनाने का सम्पूर्ण काम मुमुक्षु समाज का है। मुमुक्षु समाज को इस दिशा में विशेष सक्रिय होना चाहिए; किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि गुरुदेवश्री की वाणी के मर्म को समझने-समझाने का काम तो विद्वान लोग ही कर सकते हैं। अत: उन्हें अपनी शक्ति का भरपूर उपयोग करके इस काम को करना चाहिए।

गुरुदेवश्री के स्वर्गवास के बाद मनाये जानेवाले जन्मदिवस पर आत्मधर्म (हिन्दी) के मई 1981 के अंक के **'एक युग जो बीत गया'** शीर्षक से लिखे गये सम्पादकीय में मैंने जो कुछ लिखा था, उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है ह्न

(शेष पृष्ठ ३३ पर)